इंटरव्यू सीरीज

पतली पुस्तक

कमल स्वरूप

अजय ब्रह्मात्मज से बातचीत

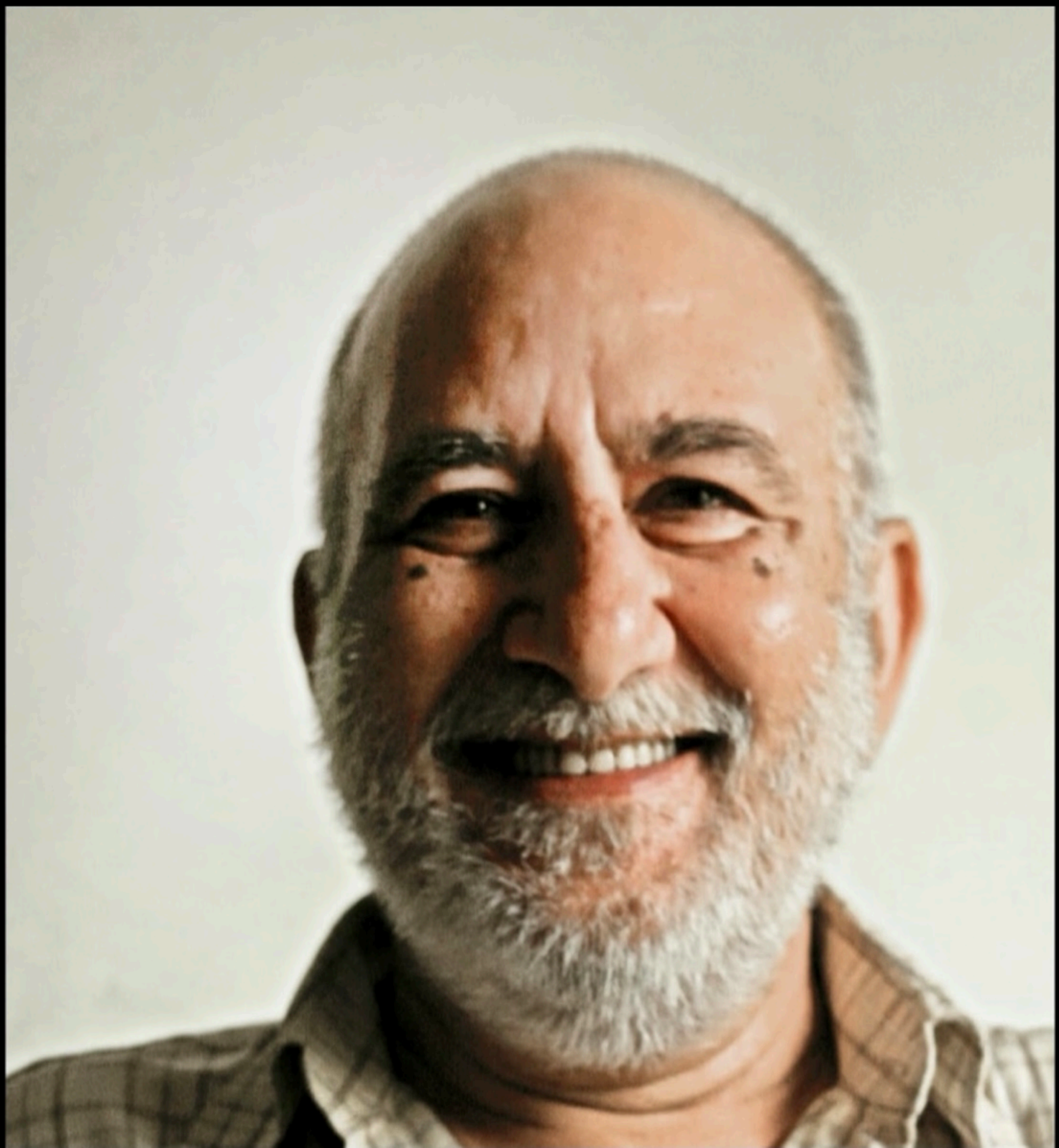

कमल स्वरुप

इंटरव्यू सीरीज

अजय ब्रह्मात्मज

प्रकाशक: नॉटनल

प्रकाशन: जुलाई, 2024

© अजय ब्रह्मात्मज

मैं अजमेर, राजस्थान का हूं। मैंने वहां से ग्रेजुएशन किया। वहां रहते हुए मुंबई की फिल्में देखता था। वहां की फिल्मों से अधिक प्रभावित नहीं था। मेरी रुचि साहित्य में थी। उन दिनों धर्मयुग और माधुरी में फिल्मों को लेकर नए ढंग का लेखन शुरू हुआ था। उनमें 'उसकी रोटी', 'बदनाम बस्ती', 'माया दर्पण', 'फिर भी' जैसी फिल्मों का जिक्र होता था। मणि कौल, कुमार शाहनी, बासु भट्टाचार्य, बासु चटर्जी, मृणाल सेन आदि के बारे में खूब लिखा जाता था। इन सभी की फिल्मों की कहानियां मैंने पढ़ रखी थीं। सिनेमा का यह संसार साहित्य से प्रेरित होकर उभर रहा था। मुझे साहित्य पर बनी फिल्मों की तलाश रहती थी। 'तीसरी कसम' आई। मैंने फणिश्वर नाथ रेणु की 'मारे गए गुलफाम' कहानी पढ़ रखी थी। उन दिनों मैं पल्प साहित्य भी पढ़ता था। वैसे साहित्य पर भी फिल्में बनी हैं। कुशवाहा कांत की 'लाल रेखा' पर दिलीप कुमार की फिल्म 'शहीद' बनी थी। मुझे जिया सरहदी की फिल्में अच्छी लगती थीं। पत्र-पत्रिकाओं में इनके नाम देख कर प्रेरणा मिली कि मैं भी इनके बीच जा सकता हूं। मुझे लगा कि ये सभी मेरी बिरादरी के हैं। कह सकते हैं कि मुझे 'कॉल' आ रहा था। फिल्मों से बुलावा मिल गया था।

पहले मेरी इच्छा साहित्य में जाने की थी। स्कूल-कॉलेज के दिनों से लिखने की कोशिश मैं करता रहा था। लिखने में समस्या आ रही थी। मैं मूलत: कश्मीरी हूं। कश्मीर बहुत पहले छूट गया तो भाषा से संपर्क भी खत्म हो गया। राजस्थान में आकर बस गए, लेकिन वहां की भाषा से जीवंत संपर्क नहीं रहा। साहित्य की मेरी

भाषा किताबी थी। मुझे एहसास हो गया था कि मैं साहित्यकार नहीं हो सकता। साहित्य की अपनी प्रांतिकताएं होती हैं। वहां भी प्रवेश आसान नहीं है। दूसरे मैंने साइंस की पढ़ाई की थी। सोचता था कि अगर साइंस पढ़ कर मनोहर श्याम जोशी लेखक बन सकते हैं तो मैं क्यों नहीं बन सकता? उस उम्र में ऐसे ख्याल आना स्वाभाविक था।

मैं बहुत पढ़ाकू था। स्कूल तक मैंने सारा भारतीय साहित्य पढ़ लिया था। मेरे पिता जी अरबी और संस्कृत के विद्वान थे। वे शिक्षाविद थे। सरपंचों को पढ़ाया करते थे। उनका नाम पंडित अमरनाथ स्वरूप था। घर में बहुत किताबें थीं। पढऩे-लिखने का माहौल था। आज की भाषा में कहूं तो मेरी हार्ड डिस्क हिंदी भाषा की नहीं है। अज्ञेय और रांगेय राघव की भी हार्ड डिस्क हिंदी की नहीं थी। शायद लिख सकता था, लेकिन ध्यान संकेंद्रित नहीं कर पाता था। भटक जाता था। एहसास हुआ तो वक्त नहीं था कि हिंदी साहित्य में एमए की पढ़ाई करूं। भाषा में मैं थोड़ा कमजोर हूं अभी तक। मैं पढ़ता था, कल्पना करता था। अनुभवों के झंझावात कोहरे की तरह दिमाग में छा जाते थे। धुंध बनता था, भावनाएं पैदा होती थीं... इन सब के बावजूद मैं उन्हें शब्द नहीं दे पाता था। मेरे पास बिंब होते थे और कल्पनाएं होती थीं।

फिल्में बनाने का ख्याल आया, लेकिन मुंबई आकर्षित नहीं कर पा रहा था। मुझे हिंदी फिल्मों की प्रेम कहानियां अच्छी नहीं लगती थीं। मुझे हिंदी फिल्मों के

हीरो पसंद नहीं आते थे। हीरो की भीड़ में अकेले किशोर कुमार पसंद थे। किशोर कुमार उस संसार के नहीं लगते थे। साहित्य पर बनी फिल्मों को देख कर मुझे बहाना मिल गया कि मैं फिल्म बनाने भाग सकता हूं। भाग कर पहुंचने के लिए एफटीआईआई था। तब तक मेरे पिता रिटायर कर गए थे। मैंने सोचा एफटीआईआई चल कर देखते हैं। मुझे तो अजमेर से निकलना था। अजमेर में सपने पूरे नैन होते। वहाँ रह कर फिल्म नहीं बना सकता था। 1971 में मैंने एफटीआईआई में दाखिला लिया। तब मेरी उम्र 19 साल की थी। मेरे बैच में 30-35 की उम्र के दूसरे छात्र थे। अरुण खोपकर, जानु बरूआ और राहुल दासगुप्ता मेरे बैच में थे। शाहरुख मिर्जा भी थे। वे कमर्शियल फिल्मों में सफल रहे। कृश्न चंदर के बेटे मुनीर भी हमारे साथ थे।

19 साल के लड़के को जब एक्सपोजर मिला तो वह पूरी तरह से स्पंदित हो गया। स्नायुओं पर असर हुआ। मैन, शरीर और भावनाएं खिलने-फूटने लगीं। समझ तो थी नहीं। बर्गमैन देख कर अजमेर से आया 19 साल का लड़का क्या समझेगा? अधिकतर फिल्में मेरी समझ में नहीं आती थीं। फिर मैंने पढ़ना शुरू किया। तब भी यह ख्याल नहीं था कि आगे चल कर फिल्म बनाऊंगा। मेरी उम्र के कम लोग थे। खुद से अधिक उमा के सहपाठियों के बीच तब मैं थोड़ा अकेला महसूस करता था। मैं कमरे में पड़ा रहता था। वहां एफटीआईआई में हिंदी साहित्य की पृष्ठभूमि से आया कोई नहीं था। मैं किस से बातें करता? एफटीआईआई में

ज्यादातर छात्र तकनीकी पढ़ाई कर आए थे। उन्हें लगता था कि वे समाज के लिए अनफिट हैं। मणि कौल और कुमार शाहनी थोड़े मशहूर हो गए थे। वे दोनों पढ़ाने आया करते थे। इन सभी ने मीडिया में हलचल मचा दी थी। एफटीआईआई के तीन साल स्वर्ग थे। आज भी एफटीआईआई के छात्र खुद को स्वर्गवासी कहते हैं। वहां सारे भेद-भाव मिट जाते हैं। एक आदर्शवादी यूटोपियन संसार था।

मैंने महसूस किया कि तत्कालीन मुंबई के बुर्जुआ समाज में संगीतकार, पेंटर, साहित्यकार की तरह फिल्मकारों की भी जरूरत थी। तब फिल्मों को आर्ट का दर्जा नहीं मिला था। बुर्जुआ बुद्धिजीवी कमर्शियल फिल्में नापसंद करते थे। उन्हें वे नौटंकी मानते थे। इस समाज में फिल्मकारों की जगह खाली थी। अकबर पद्मशी और भूपेन खख्खर को मणि कौल जैसे फिल्ममेकर मिल गए। धीरे-धीरे उनका माहौल बना। तब टाइम्स ऑफ इंडिया ऐसे फिल्मकारों को सपोर्ट करता था। उन दिनों हर हफ्ते मृणाल सेन, अवतार कौल, मणि कौल और कुमार शाहनी पर लेख छपा करते थे। ये सभी आभिजात्य वर्ग के खानदानी लोग थे।

एफटीआईआई से ग्रेजुएट करने तक मुझे फिल्म बनाने का इल्म नहीं था। तब हमलोग आर्टिस्ट और फिल्ममेकर होने की पर्सनैलिटी में ढल रहे थे। हम काफ्का, कामू, निराला और नागार्जुन दिखने और होने की कोशिश कर रहे थे। मुझे राजकमल चौधरी अधिक पसंद थे। मैं उनकी राह पर चला गया। मुझे उनकी कृतियों में 'मुक्ति प्रसंग', 'बीस रानियों के बाइस्कोप' आदि अधिक प्रिय थी। उनके